The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 3 | Issue 11 | November 2025
ISSN: 2583-973X (Online)
Website: www.theacademic.in

From Section 377 to Marriage Equality: A Queer-Theoretical Reading of India's Judicial Transformations

धारा 377 से विवाह समानता तक: भारत के न्यायिक रूपांतरणों का एक क्विियर-सैद्धांतिक अध्ययन

Ms. Veena Kumari
Assistant Professor (Law), Law Centre 2, Faculty of Law, University Of Delhi
Email- kumariveenajrs@gmail.com
Mr. Vivek Kumar Hind
Assistant Professor (Political Science), University Department of Political Science, Tilka Manjhi Bhagalpur University, Bhagalpur, Email- hind-vk@tmbuniv.ac.in

DOI : https://doi.org/10.5281/zenodo.17923674

ARTICLE DETAILS

Research Paper
Accepted: 25-11-2025
Published: 10-12-2025

Keywords:
क्वियर सिद्धांत (*Queer Theory*), संवैधानिक नैतिकता (*Constitutional Morality*), धारा *377 (Section 377)*, विवाह समानता (*Marriage Equality*), क्वियर नागरिकता (*Queer Citizenship*)

ABSTRACT

भारतीय लोकतंत्र में अधिकारों की पुनर्कल्पना हमेशा से एक अत्यंत जटिल और बहुस्तरीय प्रक्रिया रही है, विशेषतः तब जब यह पुनर्कल्पना लैंगिक विविधता, यौनिकता और सामाजिक न्याय जैसे ऐतिहासिक रूप से उपेक्षित क्षेत्रों से संबंधित हो। भारत जैसे बहुलतावादी समाज में सामाजिक मान्यताओं, धार्मिक संवेदनशीलताओं और सांस्कृतिक मूल्य-व्यवस्थाओं का प्रभाव अत्यधिक गहरा है, जिसके कारण व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामूहिक नैतिकता के बीच निरंतर तनाव बना रहता है। ऐसे परिदृश्य में LGBTQ+ समुदाय के अधिकारों की मान्यता केवल कानूनी प्रश्न नहीं बनती, बल्कि सामाजिक पहचान, मानवीय गरिमा और नागरिक समानता की व्यापक राजनीतिक बहस का हिस्सा बन जाती है। धारा 377 का उन्मूलन इसी जटिल गतिशीलता का प्रतिफल था, जिसमें नागरिक स्वतंत्रता, निजता और समानता के संवैधानिक दावों ने न्यायपालिका को मौजूदा सामाजिक ढाँचों पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित किया। इस शोध-पत्र का उद्देश्य धारा 377 की समाप्ति से लेकर विवाह

समानता के समकालीन विवाद तक भारतीय न्यायपालिका द्वारा निर्मित संवैधानिक विमर्श का क्वियर-थ्योरी के दृष्टिकोण से आलोचनात्मक परीक्षण प्रस्तुत करना है। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि न्यायपालिका ने मौलिक अधिकारों, व्यक्तिगत स्वायत्तता, और संवैधानिक नैतिकता को पुनर्परिभाषित करते हुए एक परिवर्तनकारी न्यायशास्त्र का निर्माण किया है, जिसने LGBTQ+ नागरिकों की गरिमा और स्वतंत्रता के लिए व्यापक संवैधानिक आधार प्रदान किया। तथापि, विवाह समानता के प्रश्न पर न्यायिक हिचकिचाहट यह दर्शाती है कि यह परिवर्तन अभी अधूरा है; न्यायपालिका की सीमित सक्रियता क्वियर नागरिकता के उन संरचनात्मक अवरोधों को उजागर करती है जो heteronormative सामाजिक व्यवस्थाओं, राजनीतिक अनिच्छा और वैधानिक व्याख्या की पारंपरिक सीमाओं से जुड़ी हैं। इस प्रकार, जहाँ धारा 377 का उन्मूलन संवैधानिक लोकतंत्र की प्रगतिशील दिशा को रेखांकित करता है, वहीं विवाह समानता पर अनिश्चित रुख यह स्मरण कराता है कि भारतीय नागरिकता का क्वियर-समावेशी भविष्य अभी भी संघर्षरत है और निरंतर न्यायिक व सामाजिक संवाद की माँग करता है।

भूमिका

भारतीय न्यायिक इतिहास में धारा 377 का प्रश्न केवल आपराधिक कानून का एक तकनीकी विवाद नहीं था, बल्कि यह भारतीय समाज में यौनिकता, नैतिकता और नागरिक अधिकारों को लेकर चले आ रहे गहरे वैचारिक संघर्ष का केंद्र बिंदु बन गया था। इस धारा के माध्यम से उपनिवेशवादी नैतिक अवधारणाओं को भारतीय कानूनी ढाँचे में इस प्रकार स्थापित किया गया कि यौनिक विविधता को न केवल असामान्य बल्कि आपराधिक व्यवहार के रूप में परिभाषित कर दिया गया। दशकों तक यह प्रावधान LGBTQ+ समुदाय को अदृश्य, कलंकित और सामाजिक रूप से हाशिए पर धकेलने का उपकरण बना रहा। इसलिए 2018 में इसका उन्मूलन केवल एक कानूनी सुधार नहीं, बल्कि उस ऐतिहासिक अन्याय के प्रतिकार का क्षण था जिसने व्यक्तियों की यौनिक गरिमा और स्वायत्तता पर संरचनात्मक आघात पहुँचाया था।

धारा 377 के उन्मूलन के बाद विवाह समानता की माँग ने भारतीय लोकतांत्रिक विवेक में एक नई बहस को जन्म दिया—जिसने यह प्रश्न उठाया कि क्या कानून में अपराध-मुक्ति पर्याप्त है, या पूर्ण नागरिकता के लिए सामाजिक एवं कानूनी मान्यता भी

आवश्यक है? यह माँग LGBTQ+ समुदाय की उस व्यापक आकांक्षा को प्रतिबिंबित करती है जिसमें वे केवल दंड-निरसन तक सीमित नहीं रहना चाहते, बल्कि राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त, समान गरिमा पर आधारित नागरिक जीवन का अधिकार चाहते हैं। इस प्रकार, धारा 377 का अंत भारतीय लोकतंत्र में क्वियर नागरिकता के नए आयाम खोलता है, जहाँ न्यायपालिका, नागरिक समाज और राज्य सभी को पुनर्परिभाषित करना पड़ता है कि "भारतीय नागरिकता" का वास्तविक अर्थ क्या है।

क्वियर थ्योरी इन न्यायिक और सामाजिक परिवर्तनों को समझने का एक प्रभावशाली वैचारिक ढाँचा प्रदान करती है। यह सिद्धांत न केवल विषमलैंगिक वर्चस्व (heteronormativity) और पहचान की स्थिर श्रेणियों को चुनौती देता है, बल्कि यह भी रेखांकित करता है कि कानून और समाज दोनों लगातार परिवर्तनशील होते हैं। इसी दृष्टिकोण से देखने पर भारतीय न्यायपालिका के हालिया निर्णय—विशेषकर *Navtej Johar*—संविधान को एक स्थिर पाठ के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत, गतिशील और परिवर्तनकारी दस्तावेज़ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। न्यायालयों ने इस बात को रेखांकित किया है कि समानता, गरिमा और स्वतंत्रता जैसे संवैधानिक मूल्य केवल सैद्धांतिक आदर्श नहीं, बल्कि ऐसी नैतिक प्रतिबद्धताएँ हैं जिन्हें बदलते सामाजिक संदर्भ में निरंतर पुनर्व्याख्यायित किया जाना चाहिए। इस शोध-पत्र में इन्हीं तर्कों का विश्लेषण करते हुए यह दिखाया गया है कि भारतीय संविधान किस प्रकार क्वियर अधिकारों के विस्तार की दिशा में एक परिवर्तनकारी यात्रा पर अग्रसर है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि: धारा 377 और औपनिवेशिक विरासत

भारतीय दंड संहिता (IPC) में धारा 377 को 1860 में शामिल किया गया था, और इसका मूल स्रोत ब्रिटेन का "Buggery Act" तथा बाद में विकसित "Sodomy Law" था। यह कानून विक्टोरियन नैतिकता पर आधारित था, जिसमें यौन आचरण को सख्त ईसाई-धार्मिक मूल्यों के अनुरूप नियंत्रित करने की कोशिश की जाती थी। ब्रिटिश शासन ने अपने उपनिवेशों में इन नैतिक मानकों को लागू करते हुए यह मान लिया था कि गैर-प्रजनन आधारित यौनिक व्यवहार अनैतिक, अप्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध है। धारा 377 इसी उपनिवेशवादी दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब थी, जिसने भारतीय समाज की यौनिक प्रथाओं को अपराध की श्रेणी में डाल दिया और यौनिक विविधता को सचेत रूप से अस्वीकार किया। यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि भारतीय समाज में परंपरागत रूप से नैतिकता और यौनिकता के प्रश्न कठोर द्वैतवाद पर आधारित नहीं रहे थे; यानी उपनिवेशवाद ने एक ऐसी नैतिक व्यवस्था थोप दी जो भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभव से मूलतः भिन्न थी।

उपनिवेश-पूर्व भारत में यौनिक विविधता का अस्तित्व न केवल सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में दिखाई देता था, बल्कि साहित्य, धर्म, पुराण-ग्रंथों और कला में भी इसकी सजीव अभिव्यक्ति मिलती है। किन्नर और हिजरा समुदायों का ऐतिहासिक

एवं सांस्कृतिक स्थान भारतीय समाज में सदियों से स्थापित था—चाहे वह मुगल दरबार में उनकी भूमिकाएँ हों या विभिन्न हिंदू-परंपराओं में उनके आशीर्वाद को शुभ माना जाना। इसके अतिरिक्त, कामसूत्र, शैव-शाक्त ग्रंथ, तथा भक्ति परंपराओं में भी विविध यौनिक व्यवहारों और लिंग-fluidity के उल्लेख मिलते हैं। यह सब इस बात की पुष्टि करता है कि यौनिक विविधता भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का स्वाभाविक हिस्सा रही है और धारा 377 इस ऐतिहासिक अनुभव के विपरीत औपनिवेशिक थोपन था। उपनिवेशवाद के बाद स्वाधीन भारत ने कई कानूनों में संशोधन किए, किन्तु धारा 377 का अस्तित्व बनी रहा, जो दर्शाता है कि औपनिवेशिक विरासत किस प्रकार स्वतंत्र राष्ट्र की कानूनी संरचना में भी लंबे समय तक बनी रहती है।

इस औपनिवेशिक कानून को चुनौती देने की प्रक्रिया आधुनिक भारत में मानवाधिकार आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक मानी जाती है। 2001 में NAZ Foundation ने दिल्ली उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर यह दावा किया कि धारा 377 LGBTQ+ समुदाय के मौलिक अधिकारों—विशेषकर निजता, गरिमा और समानता—का उल्लंघन करती है। यह याचिका केवल अपराध-मुक्ति की माँग नहीं थी, बल्कि यह भारतीय संविधान में निहित मानवीय मूल्यों को पुनर्स्थापित करने का प्रयास भी थी। 2009 के *Naz Foundation v. NCT Delhi* निर्णय में उच्च न्यायालय ने यह ऐतिहासिक रूप से कहा कि धारा 377 संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 के विरुद्ध है, क्योंकि यह व्यक्ति की पहचान और स्वायत्तता पर चोट पहुँचाती है। इस निर्णय ने LGBTQ+ अधिकारों को वैधानिक मान्यता देने की दिशा में देशभर में नई ऊर्जा प्रदान की।

हालाँकि, 2013 के *Suresh Kumar Koushal v. Union of India* निर्णय में सुप्रीम कोर्ट द्वारा इस फैसले को पलट दिया गया, जिससे न केवल न्यायिक प्रगतिशीलता को झटका लगा, बल्कि यह संदेश भी गया कि LGBTQ+ समुदाय की संवैधानिक सुरक्षा को अभी भी "अल्पसंख्यक" होने के कारण महत्व नहीं दिया जा रहा। कोर्ट ने यह तर्क दिया कि "LGBTQ+ लोग जनसंख्या का अत्यंत अल्प प्रतिशत हैं," जो एक संवैधानिक लोकतंत्र में बहुसंख्यकवाद की खतरनाक प्रवृत्ति को प्रतिबिंबित करता है। इस निर्णय ने नागरिक समाज, मानवाधिकार संगठनों और क्वियर आंदोलन में गहरी निराशा तथा उग्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की, जिसने आगे चलकर *Navtej Johar* (2018) जैसे निर्णयों की वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार की।

निजता से समानता तक: न्यायिक तर्कों का विकास

भारतीय संवैधानिक न्यायशास्त्र में निजता, समानता और गरिमा के प्रश्न सदैव महत्वपूर्ण रहे हैं, परंतु 2017 के *K.S. Puttaswamy v. Union of India* निर्णय ने इन सिद्धांतों को अभूतपूर्व औपचारिकता और केंद्रीयता प्रदान की। इस ऐतिहासिक निर्णय में सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया कि निजता केवल किसी व्यक्ति के भौतिक या भौगोलिक व्यक्त-क्षेत्र की सुरक्षा

नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति के आंतरिक जीवन, विचारों, भावनाओं, शरीर, पहचान और व्यक्तिगत विकल्पों की संवैधानिक सुरक्षा का भी आधार है। न्यायालय ने अत्यंत सूक्ष्मता से यह तर्क प्रस्तुत किया कि यौन अभिविन्यास (sexual orientation) व्यक्ति की निजता, स्वायत्तता और गरिमा का अभिन्न हिस्सा है, जिसे किसी भी लोकतांत्रिक और संवैधानिक व्यवस्था में राज्य द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता। इस निर्णय ने न केवल निजता को मौलिक अधिकार के रूप में पुनर्स्थापित किया, बल्कि धारा 377 जैसी औपनिवेशिक-विरासत वाली दंडात्मक व्यवस्थाओं पर पुनर्विचार की संवैधानिक भूमि भी तैयार की।

पुट्टास्वामी निर्णय का व्यापक प्रभाव यह था कि इसने न्यायिक विमर्श को "निजता" से "पहचान" की दिशा में विस्तारित किया। अदालत ने माना कि व्यक्ति के चुनाव, विशेषकर यौनिकता और संबंधों से जुड़े चुनाव, उसकी व्यक्तिगत स्वायत्तता की मूल अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार, यदि कानूनी ढांचा किसी व्यक्ति के यौन अभिविन्यास को अपराध की श्रेणी में रखता है, तो वह सीधे-सीधे उसकी निजी स्वतंत्रता, समानता और गरिमा को प्रभावित करता है। इस न्यायिक दर्शन ने धारा 377 की असंवैधानिकता पर पुनर्विचार को अपरिहार्य बना दिया, क्योंकि यह स्पष्ट था कि यह धारा LGBTQ+ समुदाय के अस्तित्व और पहचान को अपराधीकरण के माध्यम से दमन करती है।

Navtej Johar (2018): संवैधानिक नैतिकता का विस्तार

2018 का *Navtej Singh Johar v. Union of India* निर्णय भारतीय संविधान और मानवाधिकारों के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ। सुप्रीम कोर्ट ने धारा 377 को निरस्त करते हुए यह स्पष्ट किया कि न्यायपालिका का कर्तव्य सामाजिक नैतिकता (social morality) के अनुरूप निर्णय देना नहीं, बल्कि संविधान द्वारा निर्धारित संवैधानिक नैतिकता (constitutional morality) की रक्षा करना है। न्यायालय ने कहा कि सामाजिक बहुसंख्यकवाद, धार्मिक-नैतिक धारणाएँ या सांस्कृतिक पूर्वाग्रह यह तय नहीं कर सकते कि किसी व्यक्ति के कौन से अधिकार मान्य होंगे और कौन से नहीं। बल्कि संविधान में निहित गरिमा, समानता और स्वतंत्रता के मूल्य ही अधिकारों का वास्तविक आधार हैं।

न्यायालय ने यह भी रेखांकित किया कि यौनिकता व्यक्ति की पहचान का केंद्रीय घटक है, और किसी भी लोकतांत्रिक समाज में पहचान-आधारित स्वायत्तता पर राज्य का हस्तक्षेप असंवैधानिक एवं दमनकारी है। सहमति आधारित, निजी, वयस्क संबंधों पर राज्य की दंडात्मक निगरानी को अदालत ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया। इस निर्णय का महत्व मात्र अपराध-मुक्ति तक सीमित नहीं था; यह LGBTQ+ व्यक्तियों को गरिमा, सम्मान और नागरिकता की पूर्णता प्रदान करने की दिशा में एक व्यापक नैतिक हस्तक्षेप भी था।

जस्टिस डी.वाई. चंद्रचूड़ ने अपने अलग निर्णय में विशेष रूप से यह तर्क दिया कि धारा 377 ने LGBTQ+ समुदाय को "पूर्ण नागरिकता" (full citizenship) से वंचित रखा था, अर्थात यह कानून सामाजिक कलंक को वैधानिक संरचना प्रदान करता था।[4] क्वियर-थ्योरी के संदर्भ में यह निर्णय अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह पहली बार heteronormativity—अर्थात विषमलैंगिकता को "सामान्य" और अन्य यौनिकताओं को "विचलित"—माने जाने वाली सामाजिक व्यवस्था—को न्यायिक रूप से चुनौती देता है। यह निर्णय केवल एक कानूनी संशोधन नहीं था, बल्कि शक्ति-संबंधों, सामाजिक मान्यताओं और पहचान की राजनीति पर गहन संवैधानिक विमर्श का परिणाम था।

क्वियर-थ्योरी के आलोक में न्यायिक रूपांतरण

क्वियर थ्योरी आधुनिक सामाजिक चिंतन की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जो यह मानती है कि यौनिकता और लिंग पहचान प्राकृतिक, स्थिर या जैविक रूप से अपरिवर्तनीय सत्य नहीं हैं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के माध्यम से निर्मित होते हैं। इस दृष्टिकोण में व्यक्ति की यौनिक पहचान को किसी एक "स्वाभाविक" श्रेणी में नहीं बाँधा जा सकता, क्योंकि मानव अनुभव मूलतः बहुविध और तरल होता है। इस सिद्धांत की मूलभूत अवधारणा यह है कि समाज द्वारा निर्मित श्रेणियाँ—जैसे पुरुष/स्त्री, विषमलैंगिक/समलैंगिक—सत्ता-संबंधों की उपज हैं, जो यह तय करती हैं कि किस प्रकार की पहचानें वैध मानी जाएँगी और किस प्रकार की पहचानें हाशिये पर धकेली जाएँगी। इसी दृष्टिकोण के आलोक में जब हम हालिया भारतीय न्यायिक निर्णयों को देखते हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि न्यायपालिका ने क्वियर सिद्धांत के कई केंद्रीय विचारों को अपने संवैधानिक तर्क में स्थान दिया है।

सबसे पहला उपकरण है पहचान की तरलता (Fluidity), जो यह बताता है कि यौन अभिविन्यास या लिंग पहचान स्थायी, द्वैध या कठोर सीमाओं में बँधी नहीं होती। *Navtej Singh Johar v. Union of India* (2018) निर्णय में सुप्रीम कोर्ट ने बार-बार इस विचार पर बल दिया कि व्यक्ति की यौनिकता उसकी एक आंतरिक स्वायत्तता है, जो समय, परिवेश और व्यक्तिगत अनुभवों के साथ विकसित होती है। न्यायालय ने इस बात को स्वीकार किया कि यौन अभिविन्यास को "सामान्य" और "असामान्य" की कृत्रिम श्रेणियों में बाँटना वैज्ञानिक रूप से अवैध और संवैधानिक रूप से अनुचित है। यह दृष्टिकोण क्वियर थ्योरी के उस दावे को न्यायिक वैधता देता है, जिसमें कहा गया है कि पहचान की अनिवार्यता (essentialism) एक सामाजिक भ्रम है और वास्तविकता में पहचान निरंतर प्रवाह की स्थिति में होती है।

दूसरा महत्वपूर्ण उपकरण है विषमलैंगिक आदर्श (Heteronormativity) की आलोचना। हेटरोनॉर्मेटिविटी वह संरचना है जिसमें विषमलैंगिकता को ही "प्राकृतिक", "सामान्य" और "मानक" के रूप में स्थापित किया जाता है, जबकि अन्य यौनिकताओं को विचलन माना जाता है। क्वियर थ्योरी इस व्यवस्था को सत्ता के एक ऐतिहासिक तंत्र के रूप में देखती है, जिसने कई पीढ़ियों तक सामाजिक जीवन को नियंत्रित किया है। Navtej Johar का निर्णय इस संरचना की सीधी आलोचना करता है। न्यायालय ने धारा 377 को "औपनिवेशिक नैतिकता" का अवशेष बताया और कहा कि यह कानून भारतीय समाज की विविधता, इतिहास और संवैधानिक मूल्यों के विपरीत है।[5] इसके माध्यम से न्यायालय ने यह स्पष्ट संदेश दिया कि किसी समाज की नैतिकता का निर्धारण समकालीन लोकतांत्रिक मूल्यों से होगा, न कि औपनिवेशिक या रूढ़िवादी धारणाओं से जो विविध यौनिकताओं को अपराध घोषित करती थीं।

तीसरा महत्वपूर्ण उपकरण है राज्य और शरीर के संबंध पर क्वियर-थ्योरी का प्रश्न। क्वियर सिद्धांत यह पूछता है कि किसी व्यक्ति के शरीर, इच्छाओं, प्रेम और संबंधों पर राज्य को कितना नियंत्रण होना चाहिए। राज्य द्वारा नागरिकों की यौनिकता पर निगरानी, नियंत्रण या दंडात्मक हस्तक्षेप को यह सिद्धांत दमनकारी सत्ता-व्यवस्था का हिस्सा मानता है। इसी संदर्भ में *K.S. Puttaswamy* (2017) और *Navtej Johar* (2018) दोनों निर्णय यह स्थापित करते हैं कि यौनिकता के क्षेत्र में राज्य की भूमिका अत्यंत सीमित होनी चाहिए। इन निर्णयों ने इस विचार को मजबूती से रखा कि निजी, सहमति-आधारित वयस्क संबंधों में राज्य का हस्तक्षेप न केवल व्यक्तिगत स्वायत्तता का उल्लंघन है, बल्कि यह व्यक्ति की गरिमा को भी क्षति पहुँचाता है। इस प्रकार, न्यायपालिका ने क्वियर थ्योरी की उस आलोचना को वैधानिक आधार दिया जिसमें कहा गया है कि नागरिकों के अंतर्संबंध और शरीर राज्य की निगरानी का विषय नहीं हो सकते।

इस प्रकार, क्वियर-थ्योरी मात्र एक सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टिकोण न रहकर भारतीय संवैधानिक न्यायशास्त्र को पुनर्परिभाषित करने वाला एक बौद्धिक उपकरण बन जाती है। Navtej Johar और Puttaswamy जैसे निर्णयों में इसके प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, जहाँ न्यायपालिका ने पहचान को बहुविध, यौनिकता को स्वायत्त, और नागरिकता को समावेशी बनाते हुए भारतीय संविधान के परिवर्तनकारी चरित्र को नए सिरे से रेखांकित किया है।

विवाह समानता की बहस: न्यायिक साहस की सीमाएँ

भारतीय संविधान में विवाह को सदैव एक जटिल क्षेत्र माना गया है—एक ऐसा क्षेत्र जो सामाजिक संस्था, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और विधि-निर्माण, तीनों के संगम पर खड़ा है। 2023 में *Supriyo v. Union of India* निर्णय ने यह स्पष्ट कर दिया कि

Navtej Johar में समलैंगिकता को अपराधमुक्त किए जाने के बावजूद विवाह का अधिकार स्वतःस्फूर्त रूप से LGBTQ+ समुदाय को प्राप्त नहीं हो जाता। सुप्रीम कोर्ट के बहुमत का मत यह था कि विवाह का अधिकार, विशेषतः सिविल विवाह, विधायिका (legislature) द्वारा निर्मित विधिक ढांचे के भीतर ही संभव है और न्यायालय स्वयं से कोई नया विवाह कानून नहीं बना सकता। इसी तर्क के आधार पर न्यायालय ने यह भी कहा कि सिविल विवाह अधिनियम (Special Marriage Act, 1954) का विस्तार करके समलैंगिक जोड़ों को शामिल करना न्यायिक क्षेत्राधिकार से बाहर होगा, क्योंकि यह विधायी नीति-निर्माण का विषय है। इस निर्णय ने LGBTQ+ समुदाय को यह संदेश दिया कि अपराध-मुक्ति एक आवश्यक कदम तो है, परंतु यह विवाह-समानता जैसे अधिकारों की गारंटी नहीं देता।

बहुमत निर्णय की एक प्रमुख आलोचना यह रही कि न्यायपालिका ने यहाँ वही प्रगतिशील *संवैधानिक नैतिकता* लागू नहीं की, जिसे उसने *Navtej Johar* और *Puttaswamy* जैसे मामलों में दृढ़ता से अपनाया था। संवैधानिक नैतिकता वह सिद्धांत है जो कहता है कि अधिकारों की व्याख्या समाज की तत्कालीन नैतिकता नहीं, बल्कि संविधान में निहित गरिमा, समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों के आधार पर होनी चाहिए। किंतु विवाह समानता के संदर्भ में न्यायालय ने सामाजिक-विधायी प्रक्रिया को प्राथमिकता दी, जिससे heteronormativity (विषमलैंगिक वर्चस्व) को संस्थागत रूप से बनाए रखने की प्रवृत्ति उभरती है। क्वियर थ्योरी के अनुसार, जब राज्य विवाह को केवल पारंपरिक पुरुष–स्त्री संबंध के रूप में परिभाषित करता है, तो वह स्वाभाविक रूप से एक ऐसी संरचना को सुदृढ़ करता है जिसमें गैर-विषमलैंगिक संबंधों को सामाजिक व कानूनी मान्यता योग्य नहीं माना जाता। अदालत द्वारा यह कहना कि क्वियर जोड़ों के अधिकार "राज्य सरकारों और नीतिगत निर्णयों" पर निर्भर करेंगे, इस बात को और स्पष्ट करता है कि न्यायपालिका ने इस मामले में नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा की तुलना में विधायिका के विवेक को अधिक महत्व दिया।

इसके विपरीत, जस्टिस डी.वाई. चंद्रचूड़ और जस्टिस कौलक के अल्पमत निर्णय ने विवाह समानता पर एक अधिक उन्नत, संवैधानिक रूप से सुसंगत और समावेशी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। दोनों न्यायाधीशों ने यह माना कि समानता (Article 14) और गरिमा (Article 21) का तात्पर्य यह है कि राज्य किसी भी समूह को विवाह-संस्था से बाहर नहीं रख सकता, विशेषकर तब जब विवाह कई महत्वपूर्ण नागरिक लाभों—जैसे उत्तराधिकार, दत्तक ग्रहण, मेडिकल निर्णय, सामाजिक सुरक्षा—का प्रवेश द्वार है। उन्होंने यह भी कहा कि परिवार केवल जैविक संबंधों पर आधारित पारंपरिक ढांचा नहीं, बल्कि विविध प्रकार की सहजीवी संरचनाओं और भावनात्मक बंधनों से मिलकर बनता है, जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता न देना समानता-विरोधी है।

अल्पमत मत का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत यह था कि LGBTQ+ नागरिकों की नागरिकता "अधूरी" नहीं हो सकती। यदि राज्य विवाह को एक मौलिक सामाजिक अधिकार के रूप में मानता है, तो इस संस्था से LGBTQ+ व्यक्तियों को बाहर रखना संवैधानिक रूप से असंगत है। यह दृष्टिकोण क्वियर-थ्योरी में transformative constitutionalism की अवधारणा से गहराई से जुड़ता है, जिसके अनुसार संविधान एक स्थिर दस्तावेज़ नहीं, बल्कि एक सतत विकसित होने वाला ढांचा है, जिसका उद्देश्य सामाजिक असमानताओं को समाप्त करना और नए रूपों में न्याय सुनिश्चित करना है।[8] इस प्रकार, अल्पमत निर्णय न केवल एक वैकल्पिक न्यायिक दृष्टि प्रस्तुत करता है, बल्कि यह भविष्य के संवैधानिक पुनर्विचारों का आधार भी तैयार करता है।

विवाह समानता और क्वियर नागरिकता की सीमाएँ

Navtej Singh Johar (2018) के बाद यह व्यापक अपेक्षा थी कि भारतीय न्यायपालिका LGBTQ+ समुदाय के अधिकारों की प्रगतिशील व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए विवाह समानता जैसे प्रश्नों पर भी साहसिक और परिवर्तनकारी रुख अपनाएगी। अपराध-मुक्ति ने जिस संवैधानिक नैतिकता—विशेषकर गरिमा, स्वायत्तता और समानता—को पुनर्स्थापित किया था, उससे यह आशा स्वाभाविक रूप से जन्मी कि विवाह जैसी सामाजिक संस्था भी अब पारंपरिक सीमाओं से परे पुनर्विचारित होगी। लेकिन 2023 के *Supriyo v. Union of India* निर्णय ने यह स्पष्ट कर दिया कि विवाह-समानता के मामले में न्यायपालिका तैयार नहीं है। इससे भारतीय संवैधानिक लोकतंत्र में क्वियर नागरिकता के तीन गहरे संकट उभरकर सामने आए, जो यह संकेत देते हैं कि LGBTQ+ समुदाय की कानूनी बराबरी अभी भी अधूरी है।

1. अधिकार बनाम मान्यता (Rights vs Recognition)

अपराध-मुक्ति (decriminalization) और मान्यता (recognition) के बीच का अंतर LGBTQ+ समुदाय के अनुभव में अत्यंत महत्वपूर्ण है। धारा 377 को निरस्त किए जाने से क्वियर अस्तित्व को अपराध के ढाँचे से मुक्त तो किया गया, लेकिन इसने विवाह, परिवार, उत्तराधिकार, दत्तक ग्रहण, बीमा, और अस्पताल संबंधी निर्णय जैसे महत्वपूर्ण नागरिक अधिकार स्वतःस्फूर्त रूप से प्रदान नहीं किए। राज्य की संस्था के रूप में "विवाह" उन कानूनी लाभों और सुरक्षा का प्रवेश–द्वार है, जिनसे वंचित रहना LGBTQ+ नागरिकों के लिए सामाजिक असमानता और आर्थिक असुरक्षा को स्थायी बनाता है। उदाहरण के लिए, एक समलैंगिक साथी अपने साथी की मृत्यु के बाद संपत्ति पर दावा नहीं कर सकता; अस्पताल में चिकित्सा निर्णय का अधिकार नहीं मिल सकता; बीमा योजनाएँ उन्हें "परिवार" के रूप में नहीं मानतीं। इस प्रकार, अपराध-मुक्ति के बावजूद क्वियर

समुदाय को वह सामाजिक व कानूनी वैधता नहीं मिलती, जो उन्हें पूर्ण नागरिकता का अधिकार देती है। क्वियर थ्योरी के शब्दों में, यह राज्य द्वारा "अस्तित्व की स्वीकृति" तो है, परंतु "समानता की मान्यता" नहीं।

2. सभ्यता-आधारित तर्कों का पुनरुत्थान

विवाह समानता के मामले में केंद्र सरकार ने बार-बार यह तर्क दिया कि विवाह भारतीय सभ्यता की प्राचीन संस्था है, जो पुरुष–स्त्री के पारंपरिक संबंध पर आधारित है; अतः इसे बदलना समाजिक संतुलन को बाधित करेगा। यह वही तर्क है जिसे सुप्रीम कोर्ट ने *Navtej Johar* में स्पष्ट रूप से खारिज कर दिया था, यह कहते हुए कि "औपनिवेशिक नैतिकता या सामाजिक बहुसंख्यकवाद" संवैधानिक अधिकारों का आधार नहीं हो सकता। सभ्यता-आधारित तर्क heteronormativity को वैधता प्रदान करते हैं, क्योंकि वे विवाह की कल्पना केवल एक प्रकार के संबंध तक सीमित रखते हैं और अन्य संबंधों को विचलन या सामाजिक रूप से अस्वीकार्य मानते हैं। विवाह समानता बहस में इन तर्कों का पुनरुत्थान यह दर्शाता है कि सामाजिक-धार्मिक रूढ़िवाद किस प्रकार संवैधानिक विमर्श पर प्रभाव डालता है और LGBTQ+ समुदाय की समानता को सीमित करता है। यह वही संरचना है जिसे क्वियर थ्योरी सत्ता और नैतिकता के गठजोड़ के रूप में देखती है—जहाँ "सभ्यता" का तर्क वास्तव में विविधता के दमन का उपकरण बन जाता है।

3. राज्य की अभिभावक प्रवृत्ति (Paternalism)

विवाह समानता निर्णय में अदालत और सरकार दोनों ने LGBTQ+ समुदाय को "सामाजिक रूप से संवेदनशील समूह" कहकर यह संकेत दिया कि उनके अधिकारों का निर्धारण राज्य के विवेक पर निर्भर होगा। यह दृष्टिकोण राज्य को एक *अभिभावक* (paternalistic) रूप में स्थापित करता है, जो यह मानता है कि क्वियर व्यक्तियों को स्वयं अपने हितों का निर्णय नहीं करने दिया जा सकता। क्वियर थ्योरी के अनुसार, यह प्रवृत्ति LGBTQ+ नागरिकों को "अधिकार-संपन्न नागरिक" के बजाय "संरक्षित प्रजा" के रूप में चित्रित करती है, अर्थात उनकी स्वायत्तता को सीमित करती है और उनकी मान्यता को राज्य-निर्भर बना देती है।[11] यह दृष्टि न्यायपालिका के उस संवैधानिक नैतिकता के आदर्श से भी मेल नहीं खाती, जिसे उसने पहले समानता और स्वायत्तता के आधार पर विस्तृत किया था। जब राज्य LGBTQ+ व्यक्तियों को "संरक्षण" देने की बात करता है, परंतु उनकी समान कानूनी मान्यता से इंकार करता है, तो यह एक विरोधाभास रचता है: सुरक्षा का वादा, परंतु अधिकारों का अभाव।

निष्कर्ष: न्यायपालिका, लोकतंत्र और क्वियर भविष्य

धारा 377 का उन्मूलन भारतीय संवैधानिक इतिहास में एक मील का पत्थर साबित हुआ है। यह केवल एक दंडात्मक प्रावधान का अंत नहीं था, बल्कि यह भारतीय लोकतंत्र के उस गहरे परिवर्तन का संकेत था जिसमें राज्य ने पहली बार LGBTQ+ समुदाय की अस्तित्वगत गरिमा, उनकी स्वायत्तता और उनकी पहचान को संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया। इस निर्णय ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि किसी समुदाय को गरिमा सहित जीने का अधिकार केवल अपराध-मुक्ति तक सीमित नहीं है; यह उस बड़े लोकतांत्रिक आदर्श का हिस्सा है जिसमें हर व्यक्ति को अपनी पहचान और प्रेम के अधिकार को बिना किसी भय, कलंक या दमन के व्यक्त करने की स्वतंत्रता मिले। इस प्रकार, धारा 377 का अंत भारतीय लोकतंत्र की उस क्षमता को दर्शाता है जो स्वयं को सुधारने, विस्तृत करने और अधिक समावेशी बनाने में सक्षम है।

फिर भी, विवाह समानता पर न्यायपालिका की हिचकिचाहट यह दर्शाती है कि संवैधानिक प्रगतिशीलता का यह सफर अभी अपूर्ण है। जबकि *Navtej Johar* ने LGBTQ+ समुदाय को नागरिकता की गरिमा का एक नया आयाम दिया, विवाह समानता पर आए निर्णयों ने यह संकेत दिया कि समानता और स्वायत्तता के अधिकारों को व्यवहारिक स्तर पर लागू करने के लिए अभी भी संस्थागत साहस और राजनीतिक इच्छाशक्ति की आवश्यकता है। क्वियर नागरिकता को पूर्ण रूप में प्राप्त करने के लिए केवल अपराध-मुक्ति या सहानुभूतिपूर्ण भाषा पर्याप्त नहीं होगी; उसके लिए आवश्यक है कि संवैधानिक नैतिकता को व्यापक रूप से लागू किया जाए, heteronormative ढाँचों को विघटित किया जाए और राज्य की वह अभिभावक मानसिकता समाप्त की जाए जो LGBTQ+ व्यक्तियों को बराबरी के नागरिकों के बजाय "संरक्षित समूह" के रूप में देखती है।

क्वियर थ्योरी यह याद दिलाती है कि अधिकारों का प्रश्न केवल न्यायालयों द्वारा दिए गए आदेशों में सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यता, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, नीतिगत सुधार और सामूहिक चेतना के विकास से भी गहराई से जुड़ा है। जब तक समाज LGBTQ+ व्यक्तियों को समान नागरिक, बराबरी के साथी, और सम्मान के अधिकारी के रूप में स्वीकार नहीं करता, तब तक कानूनी सुधार भी सीमित प्रभाव ही डाल पाएंगे। इस संदर्भ में न्यायपालिका के निर्णय महत्वपूर्ण दिशा अवश्य प्रदान करते हैं, परंतु वास्तविक परिवर्तन तभी संभव है जब नागरिक समाज, शैक्षणिक संस्थाएँ, मीडिया, और राजनीतिक नेतृत्व मिलकर समानता और गरिमा की संस्कृति को मजबूत करें।

अंततः भारत का संवैधानिक भविष्य तभी सार्थक होगा जब प्रत्येक व्यक्ति—उसकी यौनिकता, लिंग पहचान या पारिवारिक संरचना से परे—नागरिकता की समान गरिमा, अधिकार और सुरक्षा का अनुभव कर सके। एक ऐसा लोकतंत्र जो विविधता को

केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उसका उत्सव मनाता है, वही सच्चे अर्थों में समावेशी और न्यायपूर्ण कहा जा सकता है। LGBTQ+ समुदाय के लिए पूर्ण नागरिकता का मार्ग चुनौतीपूर्ण अवश्य है, लेकिन धारा 377 के उन्मूलन और पहचान-आधारित अधिकारों की हालिया प्रगति यह संकेत देती है कि भारत उस भविष्य की ओर अग्रसर है जिसमें स्वतंत्रता, समानता और गरिमा सभी नागरिकों के साझा संवैधानिक अधिकार होंगे।

Bibliography

- Ahmed, Sara. *Queer Phenomenology: Orientations, Objects, Others.* Duke University Press, 2006.
- Austin, Granville. *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation.* Oxford University Press, 1966.
- Austin, Granville. *Working a Democratic Constitution.* Oxford University Press, 1999.
- Baxi, Upendra. *The Indian Supreme Court and Politics.* Eastern Book Company, 1980.
- Beauvoir, Simone de. *The Second Sex.* Vintage Books, 2011 (orig. 1949).
- Bhan, Gautam & Narrain, Arvind (eds.). *Because I Have a Voice: Queer Politics in India.* Yoda Press, 2005.
- Bhaskaran, Suparna. *Made in India: Decolonizations, Queer Sexualities, Trans/National Projects.* Palgrave Macmillan, 2004.
- Butler, Judith. *Bodies That Matter: On the Discursive Limits of "Sex".* Routledge, 1993.
- Butler, Judith. *Gender Trouble: Feminism and the Subversion of Identity.* Routledge, 1990.
- Chandrachud, Abhinav. *Republic of Rhetoric: Free Speech and the Constitution of India.* Penguin, 2017.
- Cohen, Cathy. *The Boundaries of Blackness: AIDS and the Breakdown of Black Politics.* University of Chicago Press, 1999.
- Cornell, Drucilla. *The Imaginary Domain: Abortion, Pornography, and Sexual Harassment.* Routledge, 1995.
- Crenshaw, Kimberlé. *On Intersectionality: The Essential Writings.* The New Press, 2017.
- Dhavan, Rajeev. *The Supreme Court of India: A Socio-Legal Critique of Its Juristic Techniques.* NM Tripathi, 1977.
- Dutta, Aniruddha, and Raina Roy. *Friendship as Social Justice Activism: Critical Solidarities in a Global Perspective.* University of Illinois Press, 2018.
- Foucault, Michel. *The History of Sexuality, Vol. 1: An Introduction.* Vintage Books, 1978.
- Fraser, Nancy. *Justice Interruptus: Critical Reflections on the "Postsocialist" Condition.* Routledge, 1997.

- Gupta, Alok. *This Alien Legacy: The Origins of "Sodomy" Laws in British Colonialism.* Human Rights Watch, 2008.
- Halperin, David. *Saint Foucault: Towards a Gay Hagiography.* Oxford University Press, 1995.
- Hinchy, Jessica. *Governing Sexuality in Colonial India: The Hijra, c.1850–1900.* Cambridge University Press, 2019.
- Honneth, Axel. *The Struggle for Recognition.* MIT Press, 1995.
- Hooks, bell. *Feminism is for Everybody: Passionate Politics.* South End Press, 2000.
- Human Rights Watch. *This Alien Legacy.* 2008.
- International Commission of Jurists (ICJ). *Sexual Orientation, Gender Identity and Human Rights in India.* 2017.
- Isin, Engin, & Bryan Turner. *Citizenship Studies: An Introduction.* Routledge, 2007.
- Jagose, Annamarie. *Queer Theory: An Introduction.* New York University Press, 1996.
- Kalra, G., et al. "Psychological Aspects of LGBTQ+ in India." *Indian Journal of Psychiatry*, 2017.
- Khaitan, Tarunabh. *A Theory of Discrimination Law.* Oxford University Press, 2015.
- Marshall, T. H. *Citizenship and Social Class.* Cambridge University Press, 1950.
- Mayer, Tamar, & Wilson, S. (eds.). *Gender Ironies of Nationalism.* Routledge, 2000.
- Menon, Nivedita (ed.). *Gender and Politics in India.* Oxford University Press, 1999.
  Menon, Nivedita. *Seeing Like a Feminist.* Zubaan, 2012.
- Narrain, Arvind. *The Emergence of the Queer Juridical Subject.* Oxford University Press, 2018.
- Nussbaum, Martha C. *Sex and Social Justice.* Oxford University Press, 1999.
- Pateman, Carole. *The Sexual Contract.* Stanford University Press, 1988.
- Rao, Srividhya. "Family, Law, and Queer Citizenship in India." *Indian Law Review*, vol. 4, no. 2, 2020, pp. 150–170.
- Reddy, Gayatri. *With Respect to Sex: Negotiating Hijra Identity in South India.* University of Chicago Press, 2005.
- Rege, Sharmila. *Writing Caste/Writing Gender.* Zubaan, 2006.
- Rich, Adrienne. "Compulsory Heterosexuality and Lesbian Existence." *Signs*, 1980.
- Sedgwick, Eve Kosofsky. *Epistemology of the Closet.* University of California Press, 1990.
- Spivak, Gayatri Chakravorty. *A Critique of Postcolonial Reason.* Harvard University Press, 1999.
- Stryker, Susan. *Transgender History.* Seal Press, 2008.
- Tong, Rosemarie. *Feminist Thought: A More Comprehensive Introduction.* Westview Press, 2009.

- UNDP & Govt. of India. *Being LGBT in India: Country Report.* 2014.
- Vanita, Ruth, and Saleem Kidwai. *Same-Sex Love in India: Readings from Literature and History.* Oxford University Press, 2001.
- Warner, Michael. *The Trouble with Normal: Sex, Politics, and the Ethics of Queer Life.* Harvard University Press, 1999.

Case Law

- K.S. Puttaswamy v. Union of India, (2017) 10 SCC 1.
- Naz Foundation v. Govt. of NCT Delhi, (2009) 160 DLT 277.
- Navtej Singh Johar v. Union of India, (2018) 10 SCC 1.
- Supriyo @ Supriya Chakraborty v. Union of India, (2023) SCC OnLine SC 1305.
- Suresh Kumar Koushal v. Union of India, (2013) 1 SCC 1.